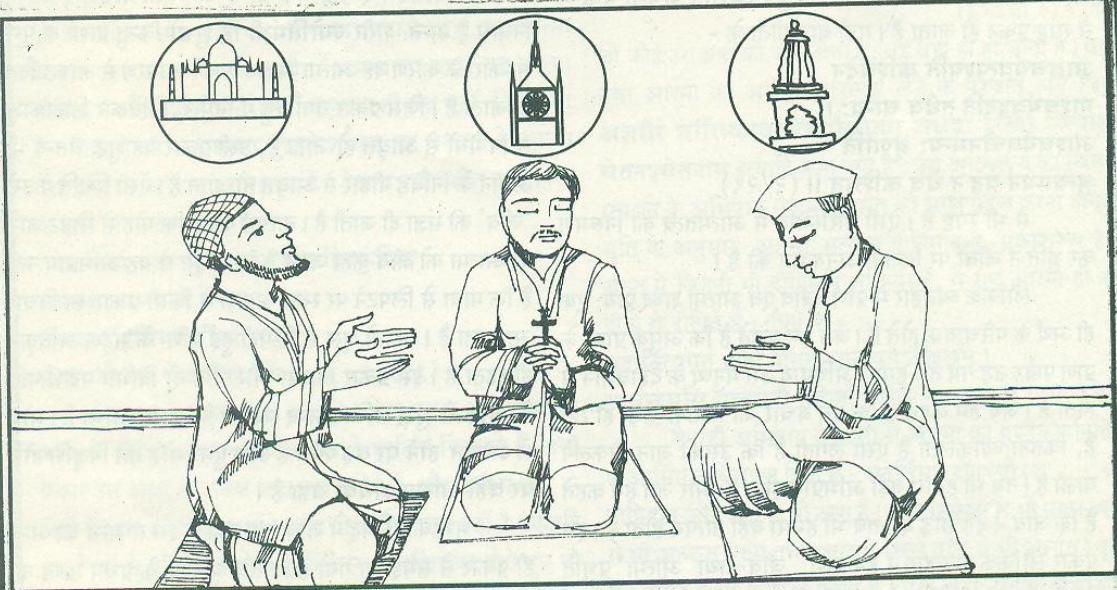


वेदान्त में आत्मतत्त्व



यदि हम अखिल विश्व के धार्मिक इतिहास का अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि जिस बात को प्राचीन भारतीय ऋषि-महर्षियों ने जैसा समझा और साहस के साथ कर दिखाया वैसा न तो अन्य राष्ट्रवादियों ने समझा ही और न किया ही। सहस्रों वर्षों से भारतीय इस बात को समझे हुए हैं कि सत्य एक है पर उसकी प्राप्ति के मार्ग अनेक हैं। विश्व का सर्वाधिक प्राचीन ग्रथ ऋग्वेद यही व्यक्त करता है एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्निं अर्थात् वह एक ही है और सद्विप्र उसे अनेक नामों से अभिहित करते हैं। ईसाई उसे गॉड कहते हैं। यहूदी जेहोवा कहते हैं, मुसलमान अल्लाह कहकर पूजते हैं, बौद्ध बुद्ध पारसी अहुरमज्द और हिन्दू 'ब्रह्म' या ईश्वर कहते हैं। समस्त सापेक्षित ज्ञान विश्व के असीम सत्य के साथ व्यक्तिगत आत्मा के एकत्व की अनुभूति में समाप्त होता है। परम सत्य विश्वात्मा या ब्रह्म है। यह अनन्त ज्ञानोदयि है। जैसे सरितायें सहस्रों मील चलकर अन्त में समुद्र में पूर्णमाण होती हैं उसी प्रकार सापेक्षित ज्ञान के स्रोत नाना नाम रूपात्मक जगत् की विभिन्न भूमिकाओं को पारकर अन्त में सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त सिन्धु में मिलकर पूर्यमाण होते हैं। 'सर्व खण्डितं ब्रह्म' यह उपनिषत्सिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न देवता ब्रह्म के ही अनेक रूप हैं। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। सब ज्योतियों की ज्योति सब प्रकाशों का प्रकाश, सब सौन्दर्यों का सार, सब मंगलों का मंगल, सब पवित्रों का पवित्र यही ज्ञान है जो सबके हृदय में है। यह ज्ञान चिरन्तन है नैनं छिन्दन्निं शास्त्राणि नैनं दहति पावकः मंत्र द्रष्टा ऋषियों का यह अनुभव है। उस अनुभव से मानसिक सुख की कितनी वृद्धि हुई है, उसकी कोई कल्पना भी

नहीं कर सकता। संसार की सारी सम्पदा से यह सम्पत्ति अधिक मूल्यवान है। कवि या चित्रकार जिस प्रकार सामान्य पदार्थों में छिपे हुए सौन्दर्य को व्यक्त करके उस समय के लिए एक नवीन दृष्टि दे देता है। उसी प्रकार ऋषि-महर्षियों के अनुभव हमें संसार की ओर देखने की दृष्टि ही दिया करते हैं। ये अनुभव यदि हम लोगों को ज्ञात न होते तो परमात्मा स्वरूप के सम्बन्ध में सब लोग अन्यकार में ही पड़े रहते। इस दृष्टि से उन उपनिषदों का हम निरीक्षण करें तो हमे ज्ञात होगा कि कितना बड़ा लाभ हुआ-इस लाभ से बढ़कर संसार में और कोई लाभ नहीं।

सामान्यतः: यही समझा जाता है कि वेदान्त दर्शन वही दर्शन है जिसका सम्बन्ध ऋग्वेदों से है परन्तु यहां जो वेद पद है वह किसी प्रथ का दोतक नहीं है बरन् उसका अर्थ है - ज्ञान। इसमें 'विद्' जानना धारु का प्रयोग हुआ है। इसी विद् धारु से अंग्रेजी भाषा का विज्डम शब्द निकला है। अतः वेदान्त शब्द का अर्थ हुआ। ज्ञान का अन्त अर्थात् पराकाश। इसमें यह निरूपण होता है कि ज्ञान क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है।

वेदान्त एकमात्र ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। चातक स्वाति के अतिरिक्त अन्य सभी जलराशियों को; मराल मुक्ता के अतिरिक्त अन्य खाद्यपदार्थों को तथा पतिव्रता स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषों को; जिस प्रकार ग्रहण नहीं करती, उसी प्रकार वेदान्त को भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु अथवा विषय प्रतिपादन के लिए ग्राह्य नहीं है। वेदान्त के ब्रह्मन तथा आत्मन् किस प्रकार अभिन्न हैं, यह

एक गूढ़ तथ्य है। वास्तव में आत्मतत्व बड़ा ही गहन है। इसका बोधगम्य होना कितना कठिन है, वह दुर्गेपथस्तत् कवयो वदन्ति से स्पष्ट प्रकट हो जाता है। यही बात गीता के -

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ (२/२९)

से भी स्पष्ट है। ऐसी परिस्थिति में आत्मतत्व का निरूपण कर श्रुति ने जीवों पर कितनी अनुकम्पा की है।

लौकिक व्यवहार में प्राण, जीव एवं आत्मा शब्द प्रायः एक ही अर्थ के परिचायक होते हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक प्राणी के प्राण पखेउ उड़ गये तब हमारा अभिप्राय उस मनुष्य के देहावसान से होता है। जब हम कहते हैं कि उस बेचारे को कितनी पीड़ा हो रही है, कितनी व्याकुलता है ऐसा लगता है कि उसकी जान निकलने वाली है। तब भी हमारा वही अभिप्राय होता है और जब हम कहते हैं कि जीव ने देह छोड़ दी तब भी हमारा वही तात्पर्य होता है। इस प्रकार लौकिक व्यवहार में हम प्राण, 'जीव' तथा 'आत्मा' प्रभुति शब्दों का समानार्थ प्रयोग करते हैं किन्तु वास्तव में ये शब्द पर्याचवाची नहीं हैं। उपनिषदों में भी तीनों शब्द प्रयुक्त अवश्य हुए हैं किन्तु समानार्थ में नहीं। 'प्राण' शब्द सूक्ष्मरूप में प्रमुखतः चेतना का द्योतक है तथा स्थूल रूप में प्राणियों के नासारूद्रों श्वास निःश्वास के रूप में बहने वाले वायु का। वेदान्त में यह शब्द अपने सूक्ष्म रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। यथा-प्राणो ह्रोष यः सर्वभूवैभिभाति...। (मुण्डको. १/४) यह जो सम्पूर्ण भूतों के रूप में असमान हो रहा है सो प्राण है। प्राण स्थिति अर्थात् अस्तित्व का आधारभूत है। अतः - 'अरा इव एकनामौ प्राणे सर्वेप्रतिष्ठितम्' (प्रवृत्ति २/६) जैसे रथ की नाभि में अरो होते हैं, उसी प्रकार सब प्राण में ही स्थित है, ऐसा कहा गया है। भूतों की वाक्, मन, चश्च, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियां प्राण के ही आश्रित हैं। प्राण प्रश्रय के अभाव में वे क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकती।

प्राण स्वयं भी निराधार नहीं है। इसका आधार आत्मा है। आत्मा से स्वतंत्र इसका कोई अस्तित्व ही नहीं क्योंकि इसका उत्पादक, इसका नियन्ता, इसका सर्वस्व आत्मा ही है। 'आत्मन एव प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैवस्मिन्नेतदाततं मनोकृते नायात्यस्मिंशरीरे। (प्रश्न ३/३) यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर से यह छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस आत्मा में प्राण प्राप्त हैं तथा यह मनोकृत संकल्पादि से इस शरीर में आ जाता है। इस प्रकार प्राण छाया स्वरूप है, अतः अनृत है, मिथ्या है। वास्तविक सत्य तो यह है जिससे इस छाया की उत्पत्ति होती है, जो प्राणों का प्राण है।

स्वभावतः आत्मा अजन्मा, शाश्वत, नित्य, सच्चिदानन्दस्वरूप है। प्रत्येक प्राणी के अन्तः शरीर में उसका निवास है अन्तः शरीर ज्योतिर्मयी हि शुभ्रो किन्तु प्राणी के पूर्ण संस्कारों के कारण यह आत्मा अज्ञान के घने आवरण से आच्छादित हो जाता है। जिस प्रकार वर्षान्नात् में निर्मल, निर्विकार निलाकाश सघन मेघों से आवृत हो जाता है, उसी प्रकार यह शुद्ध चैतन्य भी अज्ञान के निविड़ नीहार से आवृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे 'जीव' की संज्ञा दी जाती है। तात्पर्य यह है कि मोह से लिपट जाने पर आत्मा को जीव कहा जाता है किन्तु इस से यह अभिप्राय नहीं है कि माया से लिपटने पर स्वयं आत्मा में किसी प्रकार का विचार आ जाता है। वह तो धूल से लिपटी हुई मणि के सदृश अविकृत ही रहता है। इस प्रकार आत्मा और जीव दो विभिन्न पदार्थ नहीं हैं। ब्रह्म तो शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप है। वही आत्मा है। मोह से आवृत होने पर वह जीव है और पुनः मोह की निवृत्ति होने पर वही आत्मा अथवा ब्रह्म है।

मुण्डकोपनिषद् में जीव तथा ब्रह्म के इस सम्बन्ध को अन्य ही प्रकार से समझाया गया है। तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड का प्रथम मंत्र है -

दा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्ष परिष स्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्रूप्य

नशननन्या अभिचाक्षीति ॥

साथ-साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं। उनमें से एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

यहां जीव और ईश्वर को दो सुवर्ण (पक्षी) कहा है। दोनों में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह सयुजों के साथ साथ रहने वाले हैं "सखाया सखा है अर्थात् समान आख्यान वाले अन्यथा जिसकी अभिव्यक्ति का कारण समान है, ऐसे हैं तथा 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' शारीरिक रूप एक ही वृक्ष पर आश्रय करके निवास करते हैं, से स्पष्ट किया गया है। दोनों पक्षियों में अन्तर केवल इतना ही है कि उनमें से एक (जीव) अपने कर्मफल को जो स्वाद में अत्यन्त मधुर है (यद्यपि परिणाम में बन्धनमूलक है) अविवेकवश खाता है किन्तु अन्य जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप है, उस कर्मफल को खाता नहीं केवल साक्षीरूप से देखता रहता है। इस प्रकार इस मंत्र में जीव की कर्मों में आसक्ति (जो मोह और अज्ञान की द्योतक है) तथा ब्रह्म की निराशक्ति, निरीहता दिखाई गई है।

यहां अबतक जीव तथा आत्मा का तात्त्विक अर्थ एवं उनका

पारस्परिक सम्बन्ध समझने का प्रयत्न किया गया है। अब देखना है कि ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध में श्रुति के क्या विचार हैं। वेदान्त द्वैत का खण्डन और अद्वैत का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म तथा आत्मा में श्रुति कोई अन्तर नहीं समझती। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ही ब्रह्म है। एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह ब्रह्म ही सब भूतों की आत्मा है। गीता में भी अहमात्मा गुडाकेश कह कर भगवान् ने आत्मा तथा ब्रह्म का अभिन्नत समझाया है। वेदान्त इसी अद्वैत का दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादन करता है -

तदेतत्सत्यं यथा सुदीपात्पावकाद्विस्फुलिङ्गं

सहस्रः प्रभवन्ते सरूपा ।

तथाक्षराद्विविधा सौम्य भावाः

प्रजायन्ते तत्त्वं चैवापियान्ति ॥ (मु० २/१/१)

वह यह (अक्षर ब्रह्म) सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप अग्नि से उसी के समान रूपवाले हजारों स्तुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर से अनेक भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म एवं आत्मा दो विभिन्न तत्व नहीं हैं। घटादि उपाधियों से परिच्छिन्न होने से विभिन्नत दृष्टिगोचर होते हुए भी घटाकाश तथा बृहदाकाश जिस प्रकार एक ही तत्व हैं, उसी प्रकार नाम रूपादि उपाधि भेद के कारण स्थूल दृष्टि से नाना रूपों में विभक्त हुआ विखाई देने वाला यह आत्मा वस्तुतः एक ही है तथा शुद्ध साच्चिदानन्द ब्रह्म से अभिन्न है। निस्सीम अम्बुनिधि की सतह पर जिस प्रकार अनेक बूद्ध-बूद्ध उठते हैं तथा क्षणभर पश्चात् जैसे उसी में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस अक्षय चैतन्य ही से विविध जीव उत्पन्न होते हैं और उपाधियुक्त होने पर उसी में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप निर्देश करती हुई श्रुति कहती है -

अविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्

एजत्राणान्निमिषज्ञ यदेतज्जानथ सदसद्वेरण्य परं विज्ञानाद्विरिष्टं

प्रजानाम् । (मुण्डको २/२/१)

यह ब्रह्म प्रकाश स्वरूप सबके हृदय में स्थित गुहाचर नामवाला और महत्पद है। इसी में चलने वाले, प्राणन करने वाले और निमिषोन्येष करनेवाले ये सब समर्पित हैं। शंकराचार्य के शब्दों में -

एतद्यदास्पदं सर्वं जानथ हे शिष्या अवगच्छथ तदात्मभूतं भवतां सदसत्स्वरूपम् । सदसतो मूर्ता मूर्तयो, स्थूल सूक्ष्मयो स्तद्वयतिरेकेष्य भावात् ।

अर्थात् हे शिष्यगण ये सब जिस (ब्रह्मरूप) आश्रय वाले हैं उसे तुम जानो समझो, वह सदसत्स्वरूप तुम्हारी आत्मा है क्योंकि उससे भिन्न कोई सत् या असत् मूर्त या अमूर्त अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म है ही नहीं। इसी ब्रह्मस्वरूप आत्मा को बोधगम्य कर लेने का श्रुति बारंबार आदेश करती है। द्वैत भावना का मानो समूल विनाश करने

के ही अभिप्राय से श्रुति पुनः कहती है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।

(मुण्डको ३/२/९)

जो कोई उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्म तथा आत्मा का अभिन्नत्व समझ लेने के पश्चात् अब जिसे अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वास्थितम् अथवा नित्यो नित्यानां चेतनश्वेतनाम् इत्यादि कहा गया है, उस आत्मतत्व का स्वरूप समझने के अभिप्राय से पुनः वेदान्त की शरण ग्रहण करना होगा। श्रुति के अनुसार आत्मा अत्यन्त दीप्तिमान है, प्रकाशरूप है। जगत् में जितनी भी दीप्तिमान शक्तियां हैं, वे सब आत्मा ही की दीप्ति से दीपित हैं। गीता के -

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाम्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ (१५/१२)

से यही अभिप्राय है। इसी से आत्मा को मुण्डकोपनिषद् में आर्मिमूल विशेषण दिया है - यदर्तिमद्यदणुभ्योऽणु ... ' जो दीप्तिमान् और अणु से भी अणु है। आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तु से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा स्थूल से स्थूल वस्तु से भी अत्यन्त स्थूल है। महान् से भी अत्यन्त महान् है। यहां दोनों उक्तियों में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थ की सूक्ष्मता तथा महान् से भी महान् पदार्थ की महत्ता तभी तक है, जब तक उसमें आत्मा विद्यमान है। उसी से आत्मा को श्रुति ने 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' कहा है और भी

बृहत्वं तद्विव्यमचिन्त्यरूपं

सूक्ष्माच्च तत्पूर्कमतरं विभाति ।

दूरात्पुरो तदित्वान्ति के च

पश्यत्स्विव्यहै व निहितं गुहायाम् ॥ (मुण्डको ३/१/७)

वह महान् दिव्य और अचिन्त्यस्वरूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मता भासमान होता है तथा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। यह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ है। इस मंत्र में भी दो परस्पर विषद् प्रतीत होने वाली उक्तियां हैं। आत्मा दूर से भी अत्यन्त दूर है और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वास्तव में ऐसा ही है। साधारण मनुष्य के आत्मसाक्षात्कार होना कितना दुष्कर है। यह हम में से प्रत्येक को विदित है भगवान् ने गीता में कहा है -

मनुष्याणां सहन्तेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य बेटी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई ही पुरुष मेरे

परायण हुआ मुझे तत्व से जानता है अर्थात् यथार्थ मर्म से जानता है। वास्तव में आत्मसाक्षात्कार करना कोई हसी खेल नहीं है। बड़े-बड़े साधक भी जो अहर्निष्ठि इस विलक्षण आततत्व की खोज में लगे रहते हैं वर्ष दो वर्ष की तो बात ही क्या, अनके जन्मों तक यत्न करते रहने पर ही कहीं इसको जान पाते हैं, ‘अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्’ और कोई कोई तो बेचारे मार्ग ही में थककर निराश हो निर्विष्णुमन से कह उठते हैं:-

हम खोज खोज कर हार गये।

कितना दूर है वह आत्मा। और फिर भी श्रुति हम से कहती है कि वह हमारे अत्यन्त समीप है। वह हमसे हमारे शरीर की अपेक्षा भी अधिक निकट है। वास्तव में वह हमारे इतना समीप है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी मध्य में स्थान नहीं पा सकती और तो क्या यदि स्वयं समीपता भी हमारे बीच में घुसने की चेष्टा करे तो बेचारी को निराश होकर लौट जाना पड़ेगा। वस्तुतः हम और वह एक ही हैं, दो नहीं। कितनी दूरी और कितना सामीप्य है। आश्चर्य है कि हम सभी को ढूँढ़ रहे हैं।

सर्व प्रथम मनुष्य का मस्तिष्क जगत् के पीछे एक सत्ता का अनुभव करता है। सृष्टि के कार्यक्रम में एक दृढ़ नियमानुवर्तिता देखकर वह चिचारने लगता है कि हो न हो, इसका कोई नियामक अवश्य है। जब मनन करते करते मस्तिष्क कुछ और विकसित होता है तो उसे अपने नियामक की सत्ता सर्वव्यापिनी प्रतीत होती है। यहां हम देखते हैं कि सब कुछ ब्रह्म ही है - सर्व खालिवं ब्रह्म-ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। ‘ईशावास्यमिदं सर्वे यत्किंच जगत्यां जगत्। जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा अच्छादनीय है, जब हमारे ऊपर कोई दैवी रंग चढ़ता है तो हमारी स्थिति विलक्षण हो जाती है। हमें आगे पीछे, दाये-बायें ऊपर-नीचे सब ओर ब्रह्म ही-दिखाई पड़ रहा है ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

- (मुण्डक २/२/११)

क्या अद्वैतामृत वर्षिणी भगवती गीता अपने ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् तथा मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतमं इत्यादि वचनामृतों से हमारी इसी स्थिति को लक्षित नहीं कर रही है? अब हम अपने में एक बड़ा भारी परिवर्तन पाते हैं। देव प्रतिमा पर प्रसून चढ़ाते समय यदि हमारे मन में यह समस्या उपस्थित नहीं होती कि भला भगवान को भगवान पर कैसे चढ़ाऊं मैं? क्योंकि अब हमारे लिए देव प्रतिमा और प्रसून ही नहीं मैं और मेरा चढ़ाना भी ब्रह्म ही है। अब हमें कोई आपत्ति नहीं। संशय केवल तभी तक था जबतक हम इसमें की भगवान से पृथक कल्पना कर रहे थे।

अब हम इस स्थिति से भी तनिक और ऊपर चढ़ रहे हैं। हमें

अनुभव होने लगा है कि वह निरन्तर, शाश्वत सत्य एक ही है और वह हम स्वयं हैं। हमारे सिवा इस संसार में कुछ भी नहीं है। चर-अचर दृश्य-अदृश्य, चिन्तनीय-अचिन्तनीय-सब कुछ हमी हैं। अब हमारी दृष्टि अत्याधिक अन्तप्रेवोशेनी हो गई है। अब वह किसी भी पदार्थ के ब्राह्म रूप पर न ठहर कर सीधी उसके अन्तरतम में प्रवेश कर जाती है और देखती है कि वहां हमी विद्यमान हैं। हमारे मुख से निकल पड़ता है- योऽसावसौपुरुषः सोऽहमस्मि (ईशा १६) यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है, वह मैं हूँ। अब हम समझने लगे हैं कि ‘विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवता परिपूर्ण ब्रह्मैवाहमस्मि’। मैं निर्वाध रूप से आकाश के समान परिपूर्ण और विज्ञानैकरस स्वरूप ब्रह्म ही हूँ। हमारे इस एकत्वही की ओर संकेत करती हुई तथा स्वयं भी इसी का प्रतिपादन करती हुई भगवती श्रुति कहती है -

वायुर्धैको भुवनं प्रविष्टे

रूपं रूपं प्रतिरूपो ब्रह्मूव।

एकस्तथा सर्वसूतान्तरात्मा,

रूपं रूपं प्रतिरूपो ब्रह्मिश्च ॥ (कठ २/२/१०)

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

यही वह अन्तिम स्थिति है, जिस पर हमें पहुँचना है। इसी स्थिति को लक्षित करते हुए गीता ने कहा है -

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुद्भाति ।

स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ (२/४२)

यही वह परमपद है जिसका वर्णन सारे वेद करते हैं। जो समस्त तपों का एकमात्र साध्य है -

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यही वह सनातन गमनीय स्थान है जिसमें आसक्ति रहित यत्नशील महात्माजन प्रवेश करते हैं जिसकी इच्छा से मुमुक्षु जन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं -

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ॥

तथा यही वह परमसिद्धि है, जिसे प्राप्त कर लेने पर इस दुख के स्थान रूप क्षणभंगुरं पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् के चन्द्र से सदैव के लिए निवृत्ति मिल जाती है।

- डॉ. एस. जे. दिवाकर

सरस्वती सदन, इन्दिरा कालोनी (जे.एन. मार्शल)

माला रोड, कोटा ज. ३२४ ००२ (राज.)